

सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा के लिए जनांदोलन

जे जॉन

अब इस बात को व्यापक मान्यता मिल चुकी है कि 'सामाजिक सुरक्षा' एक 'बुनियादी मानवाधिकार' है और इसे सभी प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार दस्तावेजों व संधियों में मान्यता दी गई है। भारतीय संविधान की भावना भी मजदूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रावधानों का समर्थन करती है। अफसोस की बात है कि ये सारे भव्य आश्वासन अभी तक केवल कागजों तक सीमित रहे हैं। भारत सरकार अपने मजदूरों और अपनी जनता को सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा मुहैया कराने में बुरी तरह नाकामयाब साबित हुई है।

इससे भी ज्यादा खेद की बात यह है कि भारत सरकार द्वारा आजादी के बाद अपनायी गई राष्ट्रीय नियोजन एवं आर्थिक विकास की व्यवस्था से सामाजिक सुरक्षा की दोहरी प्रणाली को बढ़ावा मिला है। सामाजिक सुरक्षा की एक प्रणाली औद्योगिक मजदूरों के लिए है और दूसरी ऐसे लोगों के लिए है जो किसी सुपरिभाषित नियोक्ता-कर्मचारी संबंध के अंतर्गत नहीं आते। सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था का सार्विकीकरण न करने के लिए भारतीय शासक वर्ग अकसर यह दलील देते हैं कि भारत में 'कोई संपत्ति भेद नहीं है', या 'ज्यादातर मजदूर स्वरोजगार और अनौपचारिक श्रेणियों में हैं' या 'मजदूर गरीब हैं' इसलिए उन्हें सामाजिक सुरक्षा का अधिकार नहीं दिया जा सकता! हैरानी की बात है कि इन दलीलों में मजदूरों की गरीबी को भी एक ऐसी व्यवस्था के खिलाफ दलील के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है जो उनको गरीबी से बाहर निकलने और वितरणात्मक न्याय को बढ़ावा देने में मददगार साबित हो चुकी है।

भारतीय शासक वर्ग ने 90% भारतीय मजदूरों के प्रति बड़ा अपमानजनक रवैया दिखाया है। इन मजदूरों के नाम पर अजीबोगरीब व ढीली-ढाली योजनाएं व कार्यक्रम शुरू करके सरकार ने उन्हें सामाजिक सुरक्षा या सहायता का झांसा देने का प्रयास किया है। इन योजनाओं में गरीबों को सहायता प्रदान करने, मंदी व सूखे के दौर में रोजगार पैदा करने, जमीन और अन्य उत्पादक साधनों तक गरीबों की पहुंच बढ़ाने के दावे किए जाते रहे हैं। ज्यादातर सामाजिक सुरक्षा एवं गरीबी उन्मूलन योजनाएं ऐसे लोगों को ध्यान में रखकर बनाई गई हैं जो गरीबी की रेखा से नीचे (बीपीएल) हैं। ये सिर्फ कल्याणकारी योजनाएं हैं और उन्हें लाभान्वितों का न्यायसंगत या वैधानिक अधिकार नहीं ठहराया जा सकता। लिहाजा, इन योजनाओं में जब-तब बदलाव होते रहते हैं। ये बदलाव नौकरशाहों की इच्छा या राजनीतिक रुझानों और दबावों का परिणाम होते हैं। इससे लाभान्वितों में बार-बार भ्रम फैलता है। ज्यादातर योजनाओं में पर्याप्त बजट की भी कोई व्यवस्था नहीं की गई है। फलस्वरूप, इन सारे उपायों से न तो गरीबी दूर करने में मदद मिली है और न ही अमीरों और गरीबों का फासला कम हुआ है।

इस दोहरी सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था ने एक खास राजनीतिक मकसद को अंजाम दिया है। इस दोहरी व्यवस्था के कारण एक खंडित/विभाजित समाज पैदा हुआ है। इस समाज में एक तरफ वे लोग हैं जिनके पास औपचारिक नौकरियां और मुकम्मल सामाजिक सुरक्षा है जबकि दूसरी तरफ ऐसी विशाल आबादी है जिसके पास यह सुरक्षा और स्थायित्व नहीं है। यह ताकतवर शासक वर्गों की एक चालाकी भरी और सोची-समझी साजिश है जिसने मजदूरों में एक फांक पैदा कर दी है और कल्याणकारी योजनाओं के जरिए कुछ तबकों के भीतर निर्भरता की संस्कृति को हवा दी है।

पूंजीवादी समाज में सामाजिक सुरक्षा प्रावधान आय वितरण के लिहाज से भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं हालांकि उनका योगदान बहुत मामूली रहता है। लेकिन हमारे शासक तो शुरू से ही संपदा के वितरण या पुनर्वितरण का विरोध करते रहे हैं। फिर भी हमारे लोगों ने खूब संपदा पैदा की है और भारत को क्रय शक्ति के मामले में दुनिया की चौथी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बना दिया है। लेकिन दूसरी तरफ असंख्य अध्ययन यह भी दर्शा रहे हैं कि भारतीयों की आय असमानता, अमीर और गरीब की आमदनी में फासला लगातार बढ़ता जा रहा है। यह सिलसिला 1991 के बाद खासतौर से तेज हुआ है जब भारतीय राज्य ने अपनी अर्थव्यवस्था के उदारीकरण का फैसला लिया था। संयुक्त राष्ट्र के एक वर्गीकरण के अनुसार भारत दुनिया भर में आय असमानता के लिहाज से 72वें नंबर पर आता है।

वैश्वीकरण के साथ सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाओं के असर पर भी बहस छिड़ गई है। यह बहस न केवल गरीब और विकासशील देशों में चल रही है बल्कि विकसित पूंजीवादी देश भी इस बहस में खूब उलझे हुए हैं। औद्योगिक देशों में परिभाषित, आजीवन रोजगार एवं कमाई पर आधारित सुस्थापित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाएं भी पेंशनभोगियों की संख्या में लगातार इजाफे की वजह से गंभीर चुनौतियों का सामना कर रही हैं। वहां नए नौकरीशुदा लोगों की संख्या के मुकाबले पेंशनभोगियों की संख्या में ज्यादा तेजी से इजाफा हो रहा है और वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण से व्यवसायों व रोजगारों के स्वरूप पर गहरा असर पड़ा है। इसी प्रकार हमारे देश में भी सरकार आमदनी बढ़ाने और आय वितरण की अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ने की कोशिश कर रही हैं। यहां भी सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाओं का निजीकरण किया जा रहा है।

भारत के सामने यह एक बहुत बड़ी चुनौती है कि जिन 93% मजदूर को आज तक सामाजिक सुरक्षा लाभों से वंचित रखा गया है उनको ये लाभ कैसे मुहैया कराए जाएं और 35-40 करोड़ लोगों की भूख कैसे मिटाई जाए। इसके साथ ही जुड़ा हुआ सवाल यह है कि जो संपदा पैदा हो रही है उसका सही वितरण कैसे किया जाए। बदकिस्मती की बात यह है कि अभी तक लोगों की गरीबी को दूर करने के लिए 'सामाजिक सुरक्षा जाल' रचने की कोशिशें केवल कुछ खास तबकों पर केंद्रित कल्याणकारी योजनाओं तक ही सीमित हैं।

फलस्वरूप, जब भारत सरकार ने 17 दिसंबर 2008 को 'असंगठित क्षेत्र श्रमिक सामाजिक सुरक्षा अधिनियम' (यूडब्ल्यूएसएसए) पारित किया और 42.3 करोड़ असंगठित क्षेत्र मजदूरों व उनके आश्रितों के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था का आश्वासन दिया तो सरकार की कथनी और करनी में जमीन-आसमान का फर्क साफ उजागर हो गया। इस कानून में शुरू से ही बहुत सारी कमियां दिखायी देने लगी थीं। इस कानून में जो संरचनागत खामियां और कमियां हैं उनकी वजह से यह कानून सिरे से बेअसर साबित हो चुका है। इस कानून में सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा तक नहीं दी गई है। सामाजिक सुरक्षा योजनाओं को भी कानून के हिस्से के रूप में शामिल नहीं किया गया है जिसका मतलब यह है कि संसद में चर्चा के बिना कभी भी उनमें परिवर्तन किया जा सकता है और इस तरह मजदूरों को स्थिर कानून व वैधानिक रूप से मान्य अधिकारों का लाभ नहीं मिल सकता। अधिनियम के तहत बेरोजगारी और आजीविका अधिकारों को भी शामिल नहीं किया गया है। इस कानून में प्रसूति लाभ अधिनियम और श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम जैसे मौजूदा कानूनों को भी बहुत काट-छांट कर शामिल किया गया है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह कानून कुछ खास तबकों को लाभ पहुंचाने और कुछ को लाभ न पहुंचाने के सिद्धांत पर आधारित है क्योंकि इसके ज्यादातर प्रावधान मोटे तौर पर गरीबी की रेखा से नीचे यानी बीपीएल परिवारों तक ही सीमित हैं। इन प्रावधानों में सामाजिक समावेश व जेंडर समानता तथा दलितों, आदिवासियों व महिलाओं के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था नहीं की गई है। इस कानून में कोई वित्तीय ज्ञापन भी संलग्न नहीं है।

भारत में औद्योगिक मजदूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था की स्थापना औद्योगिक मजदूरों के विशाल आंदोलनों का परिणाम थी। इनमें से कई ऐतिहासिक आंदोलन बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लड़े गए। इक्कीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में जब भारत तेज आर्थिक विकास के रास्ते पर आगे बढ़ने का प्रयास कर रहा है तो वंचित मजदूरों के ऐसे विशाल आंदोलन ही आय का सही वितरण सुनिश्चित कर सकते हैं। वास्तव में यह संपत्ति और संपदा सबके योगदान से पैदा होती है लेकिन प्रभुत्वशाली आर्थिक व राजनीतिक शक्तियां उसे केवल मुट्ठी भर लोगों की बपौती बना देती हैं। गरीबों और कमजोर तबकों को इस संपदा में वाजिब हिस्सा मांगने के लिए अपनी आवाज और मांग बुलंद करनी चाहिए। इस प्रक्रिया में आंदोलन का एक लक्ष्य यह होना चाहिए कि लक्ष्य केंद्रित योजनाओं और कल्याणकारी प्रावधानों का विरोध किया जाए और सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा को एक अधिकार के रूप में मान्यता दी जाए।

इसी प्रसंग में आईएलओ ने 'एक सामाजिक सुरक्षा धरातल' का विचार प्रस्तुत किया है। यह नकद और वस्तुओं का एक आधारभूत सामाजिक हस्तांतरण है जिससे गरीबों और कमजोर तबकों को न्यूनतम आमदनी और आजीविका की सुरक्षा मिलेगी और उन्हें ईलाज जैसी बुनियादी जरूरत की चीजें मिलेंगी। आईएलओ का कहना है कि न्यूनतम विकसित देश भी 'एक सामाजिक सुरक्षा धरातल' का खर्चा वहन कर सकते हैं।

हमारे देश में लक्ष्य केंद्रित, साधन आश्रित एवं नियोक्ता-कर्मचारी संबंधों के परे मूलभूत आय के विचार पर आधारित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था की भारी जरूरत है। मूलभूत आय एक बिना शर्त आय होती है जो व्यक्तिगत स्तर पर सभी को मिलनी चाहिए और जिसके लिए साधनों या काम की जरूरत को कसौटी नहीं बनाया जाना चाहिए। मूलभूत आय कोई अहसान नहीं बल्कि राज्य की ओर से दिया गया आश्वासन होती है। यह व्यवस्था लक्ष्य केंद्रित कल्याणकारी योजनाओं से जुड़े आर्थिक एवं सामाजिक कलंक के अहसास को खत्म कर देती है, शासकीय व्यय में भारी कटौती लाती है और भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाती है। यह व्यवस्था अनौपचारिक परिवेश में नियोक्ता-कर्मचारी संबंधों को परिभाषित न कर पाने की समस्या और आर्थिक गतिविधियों में स्वरोजगार की बहुतायत से पैदा होने वाले भ्रम से भी छुटकारा दिला सकती है।

'सामाजिक सुरक्षा अभी' (एसएसएन) द्वारा 8-10 जनवरी 2010 को पटना, बिहार में आयोजित किए जाने वाले राष्ट्रीय असंगठित क्षेत्र श्रमिक सामाजिक सुरक्षा कन्वेंशन में ऐसे ही कुछ मुद्दों पर विचार किया जाएगा।